आर्य समाज के नियम

१ सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का मूल परमेश्वर है।

२ ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरुप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

४ सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६ संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७ सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८ अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९ प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१० सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतन्त्र रहें।

शर्मा प्रिन्टर्स, नजदीक पंजाब नेशनल बैंक, उज्जालापुर

गुरुकुल पत्रिका

भाद्रपद : २०४०
अगस्त : १९८३

वर्ष : ३५, अङ्क : ५
पूर्णाङ्क : ३४७

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य मासिक - पत्रिका

सम्पादक-मण्डल

प्रधान सम्पादक : **प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार**
आचार्य एवं उपकुलपति

सम्पादक : **डॉ० विनोद चन्द्र सिन्हा**
अध्यक्ष, इतिहास-विभाग

सह सम्पादक : **डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त**
एम०ए०-वेद (द्वितीय वर्ष)

प्रबन्ध सम्पादक : **प्रो० मनुदेव 'बन्धु'**
वेद-विभाग

डॉ० राकेश शास्त्री
संस्कृत-विभाग

गुरुकुल सम्वाददाता : **डॉ० रामप्रकाश शर्मा**
संस्कृत विभाग

प्रो० प्रमथेश भट्टाचार्य
अंग्रेजी विभाग

विषय-सूची

	विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१	श्रुति सुधा	प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार	१
२	महापुरुषों के वचन		२
३	महापुरुष चरितम्		३
४	जगद्गुरु शङ्कराचार्य का दर्शन	डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री	५
५	हिमाचल और बौद्ध धर्म	डॉ० राजपाल सिंह	१४
६	प्रभो ! हम अमरत्व को प्राप्त करें	प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार	१७
७	'रुद्र'-व्युत्पत्ति-विवेचन	डॉ० राकेश शास्त्री	२१
८	ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता	डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त	२६
९	स्वामी श्रद्धानन्द जी की लेखनी से	श्री जगदीश प्रसाद विद्यालङ्कार	२९
१०	गुरुकुल समाचार		३१
११	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के प्रकाशन		३२

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मासिक-पत्रिका)

भाद्रपद : २०४० | वर्ष : ३५, अंक : ५
अगस्त : १९८३ | पूर्णांक : ३४७

श्रुति सुधा

यो अग्निं देववीतये हविष्मां आविवासति तस्मै पावक मृडय ॥ साम० ९४६ ॥

अन्वयः– यः हविष्मान् देव वीतये अग्निम् आविवासति, पावक ! तस्मै मृडय ।

सं अन्वयार्थः– (यः हविष्मान्) जो अन्न आदि उत्तम हव्य पदार्थों का स्वामी वा सदा शुभ कर्मों में दी जाने वाली हवियों का स्वामी जप तप आदि से शुद्ध-पवित्र की आत्मरूप हवि वाला उपासक (देववीतये अग्निम्) तुझ परम देव की प्राप्ति के लिए तुझ दिव्य देव का साक्षात् करने के लिये तुझ प्रकाशस्वरूप प्यारे प्रभु की परिचर्या करता है, तुझ परम देव का आश्रय लेता है। (पावक ! तस्मै मृडय) हे पतितपावन प्यारे प्रभुवर ! तू उसको सुखी कर, शान्त कर, तृप्त कर।

जो मनुष्य इस संसार में नानाविध उत्तम पदार्थों का स्वामी होकर भी उन से ऊपर उठकर उस दिव्य की प्राप्ति के लिए उस की उपासना करता है, तो फिर वह पवित्र करने वाला प्यारा प्रभु उस को बड़ा ही सुख देता है।

□

"मृडति दानकर्मा" (निरु० १०.१५)
वीतये–प्राप्तये तस्मै—तम् (द्वितीयार्थे चतुर्थी)

महापुरुषों के वचन–

आत्मा—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति (ईशावास्योपनिषद्–४)

वह अमरतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इसे इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ है अर्थात् विद्यमान है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहते हुए ही अर्थात् उसकी सत्ता में ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्ति रूप कर्मों का विभाग करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ (गीता २-२३)

इस आत्मा को शास्त्र काट नहीं सकते, और अग्नि जला नहीं सकती और जल भिगों नहीं सकता तथा हवा सुखा नहीं सकती है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते । (गीता २-१९)

जो व्यक्ति इस आत्मा को मारने वाला जानता है तथा जो व्यक्ति इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि वस्तुतः तो यह आत्मा न किसी को मारता है और न ही स्वयं मरता है।

वेद—

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहिता विचार पुस्तक है जिनसे मनुष्य को सत्य-ज्ञान होता है उनको वेद कहते हैं।

ब्रह्म—

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् । (केनोपनिषद् २-४)

जो प्रत्येक बोध की अवस्था में प्रत्यगात्मरूप से जाना गया है वही ब्रह्म है–यही उसका ज्ञान है, क्योंकि उस ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होता है, विद्या से तो अज्ञान रूपी अन्धकार को निवृत्त करने की अर्थात् समाप्त करने की सामर्थ्य मिलती है।

महापुरुष चरितम्-

दयानन्द—

धारणा शक्ति—

स्वामी दयानन्द जी की धारणा शक्ति अलौकिक थी। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की प्रयोग सिद्धि उन्हें विस्मृत हो गयी, अतः उन्होंने उसे अपने गुरुजी से पुनः पूछा, किन्तु दण्डी जी के न बताने पर, उन्होंने बहुत प्रयत्न किया फिर भी वह प्रयोग-सिद्धि उन्हें स्मरण न आयी। पुनः गुरुजी से बताने के लिये निवेदन किया। बार-बार प्रार्थना करने पर भी गुरुजी ने डाँटकर कहा—"जब तक पहला पाठ नहीं सुनाओगे तब तक तुम्हारा पाठ आगे नहीं चलेगा और यदि तुम्हें वह प्रयोग याद नहीं आता तो यमुना में भले ही डूब मरना किन्तु मेरे पास न आना।" अपने गुरु स्वामी विरजानन्द जी के तीर के समान चुभने वाले इन शब्दों को सुनकर उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि या तो पाठ स्मरण करूंगा अन्यथा यमुना में डूबकर प्राणान्त कर दूंगा। यह संकल्प करके वे विश्राम घाट के समीप सीताघाट के शिखर पर आरूढ़ होकर समाधिस्थ हो गये, परन्तु समाधि-अवस्था में ही उन्हें पाठ का स्मरण हो आया। ऐसी थी स्वामी जी की धारणा शक्ति। (दयानन्द प्रकाश)

गुरु-भक्ति—

स्वामी जी अपने गुरुजी महाराज के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। कई बार उनके गुरुजी ने उनसे अप्रसन्न होकर उन्हें 'सोटा' आदि से भी मारा, किन्तु फिर भी उनके मन में कभी अपने गुरु के प्रति दुर्भावना नहीं आयी।'

एक दिन उनके गुरुजी ने अप्रसन्न होकर उन्हें पास पड़ी लाठी से मारा, जिससे उनके गुरुजी का हाथ दर्द करने लगा। तो स्वामी दयानन्द ने बड़े ही विनम्र शब्दों में उनसे कहा कि—"गुरुजी ! आप मुझे न मारा करें, मेरा शरीर वज्र के समान कठोर है, उस पर प्रहार करने से आपके हाथों में पीड़ा होगी।

इसी प्रकार एक बार गुरुजी के मारने तथा अपने सहपाठी नयनसुख जडिए के गुरुजी से इन्हें सन्यासी होने के कारण न मारने की सिफारिश करने पर इन्होंने अपने सहपाठी नयनसुख से कहा—कि तुमने गुरुजी से मेरी सिफारिश क्यों की। वे तो मेरे सुधार के लिये ही मारते हैं, द्वेष से नहीं मारते। जिस प्रकार कुम्हार अन्दर हाथ देकर मिट्टी को पीट-पीटकर घड़ा बनाता है। इस प्रकार यह पीटना तो उनकी मेरे ऊपर कृपा है। तुमने बुरा किया जो उन्हें मारने से निषेध किया।

(लेखराम कृत, दयानन्द-जीवन-चरित)

युग प्रवर्तक—

जिन्होंने इस पाप परिपुष्ट युग में जन्म लेकर जीवनभर निष्कन्ट ब्रह्मचर्य का पालन किया जो विद्या में, वाक्पटुता में, तार्किकता में, शास्त्र दर्शिता में, भारतीय आचार्य मण्डली के बीच में शंकराचार्य के ठीक पूरवर्त्ती आसन पर आरूढ़ होने के सर्वथा योग्य थे, वेद निष्ठा में, वेद-व्याख्या में, वेद ज्ञान की गम्भीरता में, जिनका नाम व्यासादि महर्षि-गण के ठीक नीचे लिखे जाने योग्य था, जो अपने को हिन्दुओं के आदर्श सुधारक पद पर प्रतिष्ठित कर गये हैं और इस मृत प्राय आर्य जाति को जागृति करके उठाने के उद्देश्य से मृत सञ्जीवनी औषध के भाण्ड को हाथ में लेकर जिन्होंने भरत-खण्ड में चतुर्दिक परिभ्रमण किया।

घोरतम प्रतिकूलताओं के होने, घोरतम प्रलोभनों के दिये जाने और समय-समय पर शत्रुओं के हाथों अपने प्राणनाश के यत्न किये जाने पर भी, मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचण्ड संग्राम उपस्थित करके उन्होंने भारत की आचार्य मण्डली में अपने लिये विशेष स्थान बना लिया है। इसमें अणुमात्र भी संशय नहीं है कि इस पक्ष में वह अतुल्य, अनुपम और अद्वितीय थे। जैसे मूर्ति पूजा आर्य संस्कृति की प्रधानतम वैरिणी है, वैसे ही वह मूर्ति पूजा के प्रधानतम वैरी थे। उन्होंने समस्त भारत भूमि में अति उज्जवल और प्रबल भाव से इस बात का प्रचार किया कि जब तक मूर्ति पूजा समूल नष्ट नहीं होगा तब तक भारत भूमि का कोई भी कल्याण साधित नहीं हो सकेगा। इस प्रकार दयानन्द ने जैसे अपनी अपूर्वता और विशेषता की रक्षा की है, वैसे ही इस देश का भी विशेष उपकार किया है।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय)

□□□

पाठकों के अनुरोध पर पुनः प्रकाशित—

जगद्गुरुशंकराचार्य का दर्शन

—डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
भूतपूर्व रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी०ए०वी० कॉलेज, देहरादून

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शङ्कराचार्य अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न अति सूक्ष्म दृष्टि के चिन्तक हुए हैं। वे दर्शनाकाश के देदीप्यमान सूर्य हैं। उनकी प्रतिभा, चिन्तन एवं प्रतिपादन शैली से प्रभावित होकर विश्व के सभी विद्वानों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इसका कारण उनकी विलक्षण प्रतिभा एवं उनके दर्शन का अद्वितीय रूप है। दर्शन के क्षेत्र में ऐसा सूक्ष्म चिन्तक कोई अन्य विद्वान् नहीं हुआ है। अपनी अल्पावस्था में ही जो कार्य आचार्य शङ्कर ने कर दिखाया वह अन्य किसी दार्शनिक से सम्भव नहीं हो सका है। कहा जाता है कि आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने चारों वेदों का अध्ययन कर लिया था और बारह वर्ष की अवस्था तक शेष सभी शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने बादरायण के सूत्रों पर गीता एवं दश प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा। दर्शन के क्षेत्र में इसको 'प्रस्थान त्रय' कहा जाता है। अपने परम गुरु गौडपादाचार्य की माण्डूक्य कारिका पर भी इन्होंने भाष्य लिखा। शङ्कराचार्य को शिव का अवतार कहा जाता है। अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा के द्वारा इन्होंने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है जो न एकदम भौतिकवाद है, न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद। आचार्य शङ्कराचार्य का यह सिद्धान्त वैदिक धर्म दर्शन पर आधृत अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। आचार्य शङ्कर का अद्वैतवाद कर्म और ज्ञान, स्थूल और सूक्ष्म समन्वय का सिद्धान्त है। यद्यपि इस सिद्धान्त के बीज वैदिकसाहित्य के अन्तर्गत संहिताओं, आरण्यक और उपनिषदों में विद्यमान थे, किन्तु उनके असमन्वित होने के कारण वैदिक दर्शन सुबोध्य नहीं था। महर्षि बादरायण ने औपनिषदिक दर्शन के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया और आचार्य शङ्कर ने मायावाद के सिद्धान्त की स्थापना के साथ उन सूत्रों की समन्वित व्याख्या करके अद्वैतवाद का प्रतिपाद किया एवं उपनिषदों के विरोधी सिद्धान्तों में सामञ्जस्य स्थापित किया। उनकी यह समन्वयवादिता भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में बेजोड़ है।

दर्शन शास्त्र की दुरूहता प्रसिद्ध है, किन्तु आचार्य शंकर इसके अपवाद हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थों पर भाष्य रचना के द्वारा साहित्य और दर्शन का संयोग करके दार्शनिक विषय को भी सरस एवं सरल

बना दिया है। उनके भाष्य ग्रन्थों की शैली अति मनोरम एवं सुबोध्य है।

शंकराचार्य का जन्म—

आचार्य शंकर का जन्म केरल प्रान्त के 'कालटी' नामक ग्राम में हुआ था। कालटी को ही कालड़ी और कालादी भी कहा जाता है। केरल प्रदेश में कोचीन शेरामूर रेलवे लाईन पर 'आलवाई' नामक एक छोटा स्टेशन है। इस स्टेशन से दक्षिण की ओर कालटी लगभग पाँच मील की दूरी पर स्थित है। शंकराचार्य के माता-पिता 'पन्नियूर' ग्राम के निवासी थे, परन्तु बाद में वे कालटी में आकर बस गये थे। इसी ग्राम में नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार में ७८८ ई० में शिवगुरु के घर में शंकर का जन्म हुआ ऐसा माना जाता है। डॉ० के० बी० पाठक ने अनेक तर्कों के आधार पर शंकर का ७८८ से ८२० स्थिति काल माना है। तीन वर्ष की अवस्था में ही इनके पिता का निधन हो गया। आठ वर्ष की वयस् में ही इन्होंने संन्यास ले लिया। इसके पश्चात् काशी में निवास करते हुए इन्होंने विविध भाष्य एवं ग्रन्थों की रचना की

शंकराचार्य की रचनायें—

शंकराचार्य के नाम से बहुत सी रचनाएं प्रसिद्ध हैं। यह निर्णय करना कुछ कठिन कार्य है कि इन रचनाओं में आदि शंकराचार्य की रचनाएं कौन सी है, क्योंकि शंकराचार्य ने देश के चारों भागों में मठों की स्थापना की थी और उन मठों की गद्दी पर आसीन होने वाले व्यक्ति भी शंकराचार्य ही कहलाते रहे हैं। उनमें से बहुतों ने शंकराचार्य के नाम से ही ग्रन्थों की रचना की है। अतः यह निर्णय करना अति कठिन कार्य है कि प्रस्थान त्रयी के भाष्यों के अतिरिक्त जो ग्रन्थ शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं उनमें में आद्य शंकराचार्य के कितने हैं। इन सभी ग्रन्थों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—भाष्य ग्रन्थ २—स्तोत्र ग्रन्थ ३—प्रकरण ग्रन्थ ४—तन्त्र ग्रन्थ।

१—भाष्य ग्रन्थ—भाष्य ग्रन्थ दो प्रकार के हैं (क) प्रस्थान त्रयी—ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों के भाष्य और इसके अतिरिक्त इतर ग्रन्थ—विष्णु सहस्र नाम और सनत्सुजातीय पर भाष्य।

प्रस्थान त्रयी के भाष्य ग्रन्थ—

१—ब्रह्म सूत्र पर भाष्य—शंकराचार्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना ब्रह्म सूत्र पर भाष्य है। इसकी शैली बड़ी ही परिमार्जित एवं प्राञ्जल है। इस प्रकार की भाषा, विशेषतः दर्शन ग्रन्थों में

अन्यत्र मिलना कठिन है। ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय चार पदों में। इसमें इतर मतों का निराकरण करते हुए आचार्य शंकर ने वेद और उपनिषदों को आधार बनाकर अद्वैत सिद्धान्त की युक्तियुक्त स्थापना की है। ब्रह्मसूत्र को ही वादरायण सूत्र, वेदान्त सूत्र एवं शारीरिक सूत्र भी कहते हैं।

१—गीता भाष्य—शंकराचार्य ने गीता पर भाष्य द्वितीय अध्याय के ग्यारवे श्लोक से प्रारम्भ किया है। इस भाष्य में उन्होंने गीता की ज्ञानपरक व्याख्या की है एवं तत्वज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति सिद्ध की है।

३—उपनिषद् भाष्य—शंकराचार्य ने (१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) वृहदारण्यक एवं (११) श्वेताश्वतर—इन ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

इतर ग्रन्थों पर भाष्य ग्रन्थ—

प्रस्थान त्रयी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी शङ्कराचार्य द्वारा रचित भाष्य उपलब्ध हैं, परन्तु इनमें से कुछ को ही प्रामाणिक माना जा सकता है। निम्न ग्रन्थ आचार्य शंकर के ही माने जाते हैं जिनमें (१) विष्णुसहस्रनाम (भाष्य) (२) सनत् सुजातीय (भाष्य)—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिये सनत्सुजात ऋषि ने जो उपदेश दिया था, उसका वर्णन महाभारत में है। इस पर्व को 'सनत् सुजातीय' कहते हैं। अतएव इसका भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है।

(३) ललिता त्रिशती भाष्य—ललिता त्रिशती में ललिता माता के तीन सौ नामों का उल्लेख है। आचार्य शंकर ने इस भाष्य में इन नामों की व्याख्या उपनिषद् तथा तन्त्रों के प्रमाण के आधार पर की है।

(४) माण्डूक्य कारिका भाष्य—आचार्य शंकर के परम गुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिकाएं लिखी है। इन्ही कारिकाओं के ऊपर आचार्य शंकर ने भाष्य लिखा है। यह ग्रन्थ अति महत्वपूर्ण है।

स्तोत्र ग्रन्थ—

आचार्य शंकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक होते हुए भी व्यवहार में सगुण ब्रह्म उपासक थे। इसीलिये उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति प्रभृति देवताओं के सम्बन्ध में स्तोत्र एवं स्तुतियां

लिखी है। इन स्तोत्रों में साहित्यिक और दार्शनिक दोनों प्रकार की विशेषताएं प्राप्त होती है। इनमें गणेश स्तोत्र, देवी स्तोत्र, विष्णु स्तोत्र युगल देवता स्तोत्र आदि शंकर की चौसठ प्रकाशित रचनाएं हैं। वैसे मठों में प्राप्त हस्तलिखित स्तोत्रों को मिलाकर कुल संख्या दो सौ चालीस है। परन्तु शैली और प्रतिपाद्य विषय के अनुशीलन से सभी रचनाएं आचार्य शंकर विरचित प्रतीत नहीं होती।

प्रकरण ग्रन्थ—

सर्वसाधारण को अद्वैत वेदान्त का परिचय कराने के लिये आचार्य शंकर ने कुछ प्रकरण ग्रन्थों की रचना श्लोकों में की है। वेदान्त तत्व के प्रतिपादक होने के कारण इन्हे 'प्रकरण-ग्रन्थ' कहा जाता है। उपदेश साहस्र, तत्वबोध, पंचीकरण प्रकरण चूड़ामणि आदि उन्नतालीस ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ आदि शंकराचार्य को भी हो सकते हैं।

तन्त्र ग्रन्थ—

प्रपञ्चसार और सौन्दर्यलहरी ये दोनों तन्त्रग्रन्थ हैं और आद्य शंकराचार्य के ही माने जाते हे।

भारतीय दर्शन को शंकराचार्य की देन—

वैदिक काल से लेकर आज तक दर्शन का चिन्तन-मनन किसी न किसी रूप में होता रहा है। इन सभी चिन्तकों ने भारतीय दर्शन को बहुत कुछ दिया है। परन्तु सभी दार्शनिकों मे आचार्य शंकर का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने भारतीय दर्शन की आधारशिलाओं को इतना शक्तिशाली बना दिया है कि विश्व का दर्शन भारतीय दर्शन की तुलना में कहीं नहीं ठहरता है। उन्होंने कुछ ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है जिनके बिना भारतीय दर्शन के स्थापित सिद्धान्त कुछ अपूर्ण से प्रतीत होते थे। शंकर का अद्वैतवाद एक महान् कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। इसका उग्र बुद्धिवाद, इसका कठोर तर्क मानव की आशाओं तथा विश्वासों के प्रति उपरामता का भाव लिये अपने मार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है। वेदान्त के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान थीबो ने कहा है— "शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जो विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से सब प्रकार से धर्म-तत्व सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त अत्यन्त महत्वर्ण तथा रोचक है, भारत की भूमि में उपजा है। वेदान्त के उन रूपों में से जो शंकर के मत से भिन्न दिशा में जाते है अथवा वेदान्त विपरित दर्शनों में से कोई भी, जहां तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, शास्त्रीय वेदान्त की तुलना में ही नहीं ठहर सकते।' सर चार्ल्स इलिएट के मत में 'शंकर का दर्शन संगति, पूर्णता तथा गम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है।' शंकर के ग्रन्थों को पढ़ते समय यह असम्भव है कि पाठक के मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न न हो कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क

में आ गया है कि जो अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहराई में जाने वाला अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। अपरिमेय विश्व के विषय में अपनी अत्यधिक उच्च भावना के कारण, आत्म सम्बन्धी गूढ़ तत्वों के प्रेक्षण के कारण, जिसे सिद्ध न किया जा सके उसके सम्बन्ध में न अधिक और न कम कथन करने का अविचल संकल्प रखने के कारण आचार्य शंकर मध्यकालीन भारत के दार्शनिक चिन्तनों में एक तेजस्वी व्यक्तित्व रखते हैं। उनका दर्शन स्वयं में परिपूर्ण है जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। शंकराचार्य की अति विशाल किन्तु साथ ही अति सूक्ष्म चिन्तन धारा के भीतर एक विशद तथा भावुक प्रवृत्ति की झलक मिलती है। अत्यन्त कठोर तर्क के ऊपर जहां आचार्य शंकर को पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यद्यपि यह दर्शन से भिन्न प्रकार का विषय है उनकी प्रतिभा की किरणों ने विचारधारा के अन्धकारमय कोनों में भी पहुँचकर उन्हें प्रकाशित किया है।

दार्शनिक जगत् को शंकराचार्य की जो प्रमुख देन रही है, उसका स्वरूप निम्न प्रकार है—

(क) अद्वैतवाद का प्रस्थापन (ख) माया का प्रतिपादन (ग) आचार सम्बन्धी विशेषताएं (घ) कुछ अन्य देन।

(क) अद्वैतवाद का प्रस्थापन—

अद्वैतवाद भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण अङ्ग है। भारतीय साहित्य में आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से पूर्व भी इस सिद्धान्त का वर्णन जहाँ तहाँ मिलता है। संहिताओं में अद्वैत सिद्धान्त का पूर्ण वर्णन न मिलने पर भी अद्वैतपरक अभिव्यक्तियां मिलती हैं। उपनिषदों में तो इस सिद्धान्त के स्पष्ट रेखाचित्र मिलते ही हैं। बौद्ध दर्शन में माध्यमिक तथा योगाचार भी अद्वयवादी ही थे। साहित्य क्षेत्र में महाकवि भवभूति ने अपने उत्तरराम चरितम् नाटक में भी वितर्कवाद के सहारे अद्वयवाद का ही संकेत दिया है। परन्तु आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद का निरूपण एक नवीन पद्धति से किया था। उनका यह अद्वैतवाद 'केवलाद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अद्वैतवादों में शिव शक्ति, शून्य तथा विज्ञान किसी न किसी को अवश्य स्वीकार किया गया है परन्तु आचार्य शंकर एक ब्रह्म को ही अद्वैत सत्य मानते हैं। शंकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'—ब्रह्म सत्य है, अनन्त है और ज्ञान रूप है। ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जगत् और जीव की द्वैतानुभूति का निराकरण करके एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करके अद्वैतवाद की स्थापना की है। ब्रह्म, जगत् और जीव की द्वैतावस्था का भान तभी तक रहता है जब तक कि पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता। इस भेदबुद्धि एवं प्रपञ्च की सत्य प्रतीत का कारण अध्यास है।

अध्यास—

अध्यास सब प्रकार के प्रपञ्च का मूल कारण है। यह अध्यास नैसर्गिक है। अध्यास मिथ्या ज्ञान रूप है। और कर्तृत्व, भोक्तृत्व का प्रवर्तक है। किसी पदार्थ में उससे भिन्न का आरोप ही अध्यास है। इसे आचार्य शंकर ने अविद्या भी कहा है। रस्सी में सर्प का मिथ्या ज्ञान ही आरोप है। अध्यास अर्थात् अविद्या के द्वारा ही रस्सी सर्प के रूप में भासित होती है। परन्तु अविद्या निवृत्ति के पश्चात् रस्सी का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। यही बात ब्रह्म रूप सद्वस्तु और संसाररूप असद्वस्तु के सम्बन्ध में भी विचारणीय है। स्वयं प्रकाश, चेतन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म परमार्थ वस्तु है और प्रपञ्च रूप दृश्यमान समस्त जड़ पदार्थ समूह अवस्तु है। ब्रह्मरूप वस्तु के ज्ञान होने पर जगत् रूप अवस्तु का भ्रम दूर हो जाता है। यही अद्वैत सिद्धान्त का सार है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन विवर्त-वाद के सिद्धान्त के आधार के आधार पर किया है।

विवर्तवाद—

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है, परन्तु जगत् को ब्रह्म का विकार नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में जो सत्य और असत्य के रूप में भिन्नता है वह दही और दूध के सम्बन्ध में नहीं है। इसलिये वह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, विकार नहीं।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मूलाधार तीन प्रकार की सत्ताओं की परिकल्पना है। ये सत्ताएँ-प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता है।

प्रातिभासिक सत्ता—

प्रातिभासिक सत्ता के अनुसार प्रतीतिकाल में असत्य वस्तु सत्य भासित होती है। परन्तु बाद में इस असत्य वस्तु का बोध हो जाता है। शुक्ति-सीप में रजत-चांदी की प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता के अनुसार ही है। बाद में सीप का ज्ञान होने पर चाँदी की प्रतीति का निराकरण हो जाता है। यही बात रस्सी और साँप के दृष्टान्त में भी हैं। साँप और रस्सी आदि का प्रातिभासिक ज्ञान भी निराधार नही होता। साँप का आधार रस्सी है और चांदी का आधार सीप।

व्यावहारिक सत्ता—

जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है। जगत् के व्यावहारिक पदार्थ केवल व्यवहार में सत्य हैं। परमार्थ दृष्टि से ये सब मिथ्या हैं। ब्रह्म का ज्ञान होने से पूर्व ही व्यावहारिक जगत् की

सत्य प्रतीत होती हैं। इसी अवस्था में समस्त लौकिक व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक सत्ता की स्थापना के द्वारा आचार्य शंकर ने लौकिक व्यवहार की वास्तविकता की रक्षा की है।

पारमार्थिक सत्ता—

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। यह सत्ता ही एकान्त रूप से सत्य है एवं तीनों काल में अबाधित रहती है। ब्रह्म-भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान रहता है। पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ताओं का बोध हो जाता है। पारमार्थिक सत्ता ही अद्वैत सिद्धान्त की पोषक है। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता के द्वारा आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्त की पुष्टि की है। जिस प्रकार ब्रह्म से पृथक जगत् की सत्ता अविद्याजन्य है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भेद भी अविद्याजन्य ही है।

जीव—

अन्तःकरण समन्वित चैतन्य जीव कहलाता है। वस्तुतः शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान की उपाधि के संयोग से जीव रूप से विद्यमान रहता है। शरीर तथा इन्द्रिय समुदाय के ऊपर शासन करने वाला और कर्म के फलों का भोगने वाला यही जीव है। यह चैतन्य स्वरूप है। जीव अविद्या के वश में होकर शरीर और इन्द्रियों के साथ अभिन्नता प्राप्त करके शरीरादि के दुःख का भोक्ता है। इसलिये अविद्या के दूर होने के पश्चात् जीव ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। 'जीवो ब्रह्मैव नापर. जिस प्रकार जल में दिखाई पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के अनुसार ही रूप ग्रहण करता है। जल में कम्पन आने पर सूर्य के प्रतिबिम्ब में भी कम्पन आने लगता है। परन्तु बिम्बस्थानीय सूर्य स्वतन्त्र रहता है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्म भी वस्तुतः विकारहीन एवं एकरूप है।

शंकराचार्य ने विवर्तवाद, अध्यास तीन प्रकार की सत्ताएं एवं जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है। इन सिद्धान्तों के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का स्वरूप नितान्त मौलिक एवं तर्क के आधार पर प्रतिष्ठित है।

माया का प्रतिपादन—

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बिना अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि असम्भव है। यही कारण है कि मायावाद के सिद्धान्त से पूर्व भारतीय-दर्शन में

अद्वैत की विचारधारा की पुष्टि न हो सकी आचार्य शंकर ने मायावाद के सिद्धान्त को स्थापित करके भारतीय दर्शन की अद्वैत विचारधारा को सुपुष्ट बना दिया हैं उन्होंने अविद्या एवं जगत् मिथ्यात्व के रूप में मायावाद के सिद्धान्त का विकास किया है। उन्होंने माया को ब्रह्म की अविद्यात्मिका बीज-शक्ति कहा है। अग्नि की अपृथक्भूत दाहक शक्ति के समान ही माया ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति है। माया के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में आचार्य शंकर का कथन है कि न वह सत् है और न असत्। यदि माया सत् होती तो उसका ब्रह्मज्ञान के पश्चात् बाध न होता। इसके विपरीत माया को असत् भी नहीं कहा जा सकता। यदि माया असत् होती तो उसकी प्रतीति भी नहीं होती। व्यावहारिक जगत् की प्रतीति की सत्यता को भी प्रमाणित करनी है। इस प्रकार माया परमार्थ सत् एवं अलोक असत् से विलक्षण होने के कारण प्रातीतिक रूप सत् है। यही माया का अनिर्वचनीय स्वरूप है। एक ही ब्रह्म माया के कारण अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है। विद्यारण्य स्वामी के शब्दों में 'स्पष्ट रूप से भासित होने पर भी जिसका निरूपण न किया जा सके वही माया है।

आवरण और विक्षेप नामक माया की शक्तियां—

आचार्य शंकर ने माया की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियां मानी हैं। माया की आवरण शक्ति के द्वारा आवृत जीव अपने आपको सांसारिक विषयों का कर्त्ता, भोक्ता आदि समझने लगता है और अविद्या के नष्ट होने के पश्चात् कर्त्तव्य और भोक्तृत्व की वासना का भी विनाश हो जाता है।

माया विक्षेप शक्ति के रूप में समस्त प्रपञ्च रूप जगत् की जननी है। जिस प्रकार अज्ञान के द्वारा रस्सी में सर्प की भावना हो जाती है, उसी प्रकार माया के द्वारा अज्ञान से आवृत आत्मा में अज्ञानी के लिये सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना हो जाती। परन्तु जब जीव माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उसे सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी ब्रह्मरूप हो जाता है।

शंकराचार्य के दर्शन की आचार सम्बन्धी विशेषताएं—

मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की स्थिति पारमार्थिक है। आचार्य शंकर ने पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्थापित करके वेदान्त दर्शन की पलायनवादी होने का संकेत दिया है। व्यावहारिक जगत् की सुखमय स्थिति एवं चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उनके दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण विश्व समाज को नितान्त उपयोगी देन के रूप में प्राप्त है। आचार सिद्धान्त नितान्त का ही एक अंग है। आचार्य शंकर का आचार सिद्धान्त ज्ञान और कर्म तथा

व्यवहार परमार्थ का समन्वय है। उन्होंने राग-द्वेष युक्त सकाम कर्म का खण्डन करके निष्काम कर्म को महत्त्व दिया है। भावना से धर्माचरण करने वाला व्यक्ति देव कहलाता है। इसके विपरीत स्वभाव सिद्ध राग-द्वेष से धर्माचरण करने वाला व्यक्ति असुर कहलाता है। यह देवकर्म एक ओर तो आध्यात्मिक प्राप्ति का साधन है तो दूसरी ओर सुखी आदर्श समाज का प्रस्थापक। जहां सकाम कर्म का अनुष्ठान मनुष्य को पशुत्व की ओर ले जाता है, वहां निष्काम कर्म मानव को सुर में परिणत कर देता है। इस प्रकार शंकराचार्य निष्काम कर्म ऐहिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार का सुख प्रदान करता है।

कुछ अन्य देन—

इन सबके अतिरिक्त भी आचार्य शंकर ने भारतीय दर्शन को कुछ और दिया हैं। उन्होंने अपने समय में प्रचलित समस्त अवैदिक मतों का खण्डन करके वैदिक धर्म की फिर से स्थापना की। इसके अतिरिक्त, दार्शनिक उत्थान एवं धर्माचरण के निमित्त भारतवर्ष में चार मठों की स्थापना करके जो वातावरण उत्पन्न किया है, वह दार्शनिक जगत् के लिये परम हितकर सिद्ध हुआ है। तान्त्रिक उपासना के क्षेत्र में आचार्य ने जिस पद्धति का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है। भगवती त्रिपुर सुन्दरी के अनन्य उपासक शंकराचार्य ने श्री विद्या के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह विलक्षण है। उन्होंने इस विषय का प्रतिपादन 'सौन्दर्य लहरी' एवं 'प्रपञ्च सार' नामक ग्रन्थों में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। आचार्य शंकर अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष थे जिन्होंने अपने सूक्ष्म चिन्तन से भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद की स्थापना करके उसे परमोन्नत गौरव प्रदान किया।

हिमाचल और बौद्ध धर्म

–डा० राजपाल सिंह

प्रकृति के लहराते हरित अंचल के मध्य पश्चिमी हिमालय की शिवालिक पर्वत श्रृङ्खलाओं की गोद में हिमाचल प्रदेश स्थित है। जहां रावी, सतलज, व्यास, चिनाव यमुना इत्यादि नदियों की पीयूष धारा अनवरत प्रवाहमान है। पर्वतों की अनेकानेक श्रृङ्खलाओं और घाटियों की दुर्लंघ्य गहराईयों में लाहोल स्पिति किन्नौर, कुल्लु, कांगड़ा, चम्बा आदि जिले वर्तमान हैं। अपनी प्राकृतिक सम्पदा और सौन्दर्य के कारण हिमाचल हमेशा से ही आकर्षण का केन्द्र रहा है।

किसी भी विषय से सम्बन्धित इतिहास जानने के लिये तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी आवश्यक है। अधिकांशतः साहित्य, इतिहास तथा ज्ञान के अन्य शास्त्रों के अध्ययन के समय किसी तत्कालीन ग्रन्थ इत्यादि सामग्री का आ अवलम्बन लेना आवश्यक हो उठता है। क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विधि से लिखा गया ग्रन्थ इस दुर्गम पथ का पाथेय बनता है।

किसी ऐतिहासक ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण हिमाचल में बौद्ध धर्म के इतिहास को जानने के लिये हमारे पास मूल श्रोतों का अभाव है। हेंनसांग के भारत यात्रा वर्णनों से इस विषय पर कुछ प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। उस समय कुल्लु बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। इसके अतिरिक्त तिब्बत से प्राप्त बौद्ध साहित्य से उस क्षेत्र के बौद्ध धर्म के प्रसार एवं प्रचार के कतिपय बिन्दु प्रकाश में आते हैं। हिमाचल के अन्य भीतरी क्षेत्रों में से किन्नौर, लोहोल तथा स्पिती भी प्राचीन समय से ही बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र रहे। आज भी इन क्षेत्रों में बौद्ध धर्म अपनी उसी पुरानी गरीमा से मण्डित होकर संस्थापित है।

एक सीमा तक साहित्यिक श्रोतों की अपेक्षा अधिक प्रमाणित पुरातात्विक श्रोतों द्वारा हिमाचल में बौद्ध धर्म के प्रसार जानने में सहायता प्राप्त होती है। इन पुरातात्विक श्रोत्रों में सांची का दूसरा स्तूप प्रमुख है। इसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि हिमाचच के इस क्षेत्र में तीसरी सदी में सम्पूर्ण हिमाचल क्षेत्र का गुरु कहे जाने वाले 'मन्झान्तिक' द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया था। हेंनसांग के यात्रा वर्णनों से विदित होता है कि भारत के उत्तरी भागों की तरह इस क्षेत्र में भी भगवन् अमिताभ ने धर्म का प्रचार स्वयमेव किया था। तथागत का आगमन अपने शिष्यों के साथ कुल्लु में हुआ था। वहां से उनके शिष्यों के द्वारा बौद्ध धर्म शाखा व प्रशाखाये सम्पूर्ण हिमाचल में प्रसारित की गयी, चौथी और पांचवी शताब्दी तक बौद्ध धर्म इस प्रदेश में पूर्णतया जड़ जमा चुका था।

बौद्ध धर्म के प्रचार में आगे चलकर सम्राट अशोक ने महत्व भूमिका निभायी, उसने अनेक बौद्ध भिक्षुणियों को सर्वत्र प्रचार हेतु भेजा, जन साधारण में बौद्ध धर्म के आदेशों और नियमों को प्रसारित करने के लिए अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया, कांगड़ा में अशोक द्वारा निर्मित विशाल स्तूप के अवशेष आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। कांगड़ा मोर्यकाल में बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था।

कांगड़ा के निकट के मैदानी क्षेत्रों में औदम्बरों का गणराज्य था। उन्हें यहां से दो प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए है। उन सिक्कों से ऐसा प्रतीत होता है कि शासक वर्ग शैव-धर्म में आस्था रखते थे परन्तु गणराज्यों से प्राप्त सिक्कों बौद्ध धर्म के प्रतीक चिन्ह जैसे बोधि वृक्ष, चैत्य आदि अंकित हैं इससे यह विदित होता है कि शासक वर्ग तो बौद्ध धर्म का समर्थक न था। किन्तु साधारण जनता में कुछ लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

बौद्ध धर्म को अंगीकार करने वाले विदेशी आक्रमणकारी 'मिनेन्डर' ने भी अपने शासनकाल में इस धर्म के प्रचार हेतु बहुत काम किया यद्यपि इसका साम्राज्य मैदानी क्षेत्रों में स्थित था, तथापि अपने राज्यकाल में बौद्ध धर्म की संस्थापना के लिये 'मिनेन्डर' ने अपना काफी सहयोग दिया।

कुषाणों के समय में भी बौद्ध धर्म शलील धारा अनवरत प्रवाहित की इस काल में आकर बौद्ध ने काफी उन्नति की। विशेषत: कनिष्क के काल में चतुर्थ बौद्ध संगति का आयोजन किया गया था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह सभा हिमाचल के समीप जालन्धर नामक स्थान में हुई थी। कांगड़ा में प्राप्त कुछ पुरातात्विक तत्वों से बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। ब्रह्मी तथा खरोष्ठी में लिये गये दो शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में चांदरू नदी के किनारे द्वितीय शताब्दी में कुछ बौद्ध विहार बनवाये गये थे।

कुषाणों के साम्राज्य की समाप्ति के पश्चात् यह क्षेत्र अन्य प्रदेशों की तरह ग्राम एवं संस्कृति की दृष्टि से निरन्तर प्रगति करता रहा। यह समय हिन्दू धर्म के विकास का समय था। कई पुरातात्विक श्रोतों से यह विदित होता है कि चौथी शताब्दी से लेकर नवीं तथा दशवी शताब्दी तक हिमाचल के कांगड़ा कुल्लु मण्डी, तथा सिरमौर के क्षेत्रों में सैव वैष्णों, शाक्त, तथा सौर सम्प्रदाय ने अपना स्थान बना लिया था। किन्तु इसके साथ-साथ ही बौद्ध धर्म भी पनपता रहा था।

हेंनसांग द्वारा लिखत यात्रा वर्णनों से ज्ञात होता है कि हिमाचल से सम्बद्ध जालंधर सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। उस समय यहां बौद्ध विहार स्थित थे। मध्य देश के किसी सम्राट ने यहां बौद्ध धर्म के संरक्षण एवं संशोधन के लिये कुछ व्यक्तियों की नियुक्ति की

थी जो बौद्ध भिक्षुओं के आचरण पर दृष्टि रखते थे। कुषाणों के समय में कांगड़ा महायान बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। चेरी, नरवारकोट निकट से प्राप्त छठी या सातवी शताब्दी में लिखित अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि गुप्तकाल और इससे बाद के समय में भी यहां महायान धर्म विकसित होता रहा था। हेंनसांग का आगमन भी इसी काल में हुआ था।

कुल्लु इस काल में बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था। यहां पर बीस संघापम थे, पर्वतों में अनेक कन्दरायें थी। हेंनसांग के आगमन के समय सम्राट अशोक द्वारा निर्मित स्तूप विद्यमान था अब उसके अवशेष साथ ही बीस संघापम समाप्त हो गये हैं। कुछ बौद्ध भिक्षु इस संघापम को छोड़कर चले गये थे, इस निर्जन संघापम के सामान के बाद हिन्दु-मन्दिरों का निर्माण किया गया। हरकोर्ट नामक विद्वान का कथन है कि बिजली महादेव के मुख्यद्वार पर लाट बौद्ध कला की निशानी है। सम्भवतः यह वही स्तूप था जो अशोक ने बनवाया था। हिमाचल के किन्नौर ओर निकट के राज्यों में सुहन ओर शतदु से, शतदु के मुख्य नगरों में अधिकांशतः बौद्ध विहार रिक्त पड़े थे। सम्राट अशोक द्वारा निर्मित स्तूप यहां विद्यमान था।

हेनसांग के वर्णन से ऐसा विदित होता है कि हिमाचल के इस क्षेत्र के बौद्ध भिक्षु अपने निवास स्थानों का परित्याग कर किन्नौर के समीप पहाड़ियों में शरण ले रहे थे। सम्भवतः विदेशी आक्रमण-कारी हूण सम्राट मीहरकुल के बौद्ध धर्म विरोधी होने के कारण क्योंकि उसने बौद्ध मठों व केन्द्रों को नष्ट किया और अनेक बौद्ध भिक्षुओं को मृत्युदान दिया था। अतः भयभीत बौद्ध भिक्षु विहारों का त्याग कर अन्यत्र जाकर व्यवस्थित हो रहे थे। आंठवी शताब्दी तक हिमाचल में बौद्ध धर्म की स्थिति यथावत् बनी रही। कुल्लु से लगभग १८०० मील उत्तर दिशा में पहाड़ों और घाटियों के साथ-साथ दुर्गम और कठिन मार्ग से लोग लाहोल में जाते थे। हिमाचल का ये क्षेत्र कई मार्गों से जुड़ा था। इसके साथ ही किन्नौर और स्पिती कई मार्गों द्वारा बौद्ध यात्रियों के लिये खुले थे। यातायात के सुगम रास्तों के कारण यह क्षेत्र बौद्ध धर्म का एक विशेष प्रमुख केन्द्र बन गया। लाहोल में बौद्ध धर्म के विस्तार के अनेक कारणों में से मुख्य कारण यह भी था कि बौद्ध धर्म को राज्य संरक्षण प्राप्त था। उस संरक्षण के कारण धर्म के प्रचार एवं प्रसार में सहायता मिली। हालांकि कुछ हिन्दु शासकों ने इसका विरोध भी किया। परिणामतः कश्मीर को छोड़कर बौद्ध भिक्षु एवं विद्वान् लद्दाख, लाहोल एवं स्पिती के पहाड़ों में जाकर अपनी साधना करने लगे।

वैसे लाहोल स्पिती तथा लद्दाख के क्षेत्रों में विशेषकर मध्यकाल में बौद्ध धर्म तिब्बत से भी होकर आया। तिब्बत में यह बंगाल बिहार एवं नेपाल से होता हुआ पहुँचा था।

□

प्रभो ! हम अमरत्व को प्राप्त करें

प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

ओ३म् यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम ॥ ऋ० ५.४१.१० ॥

अन्वयः :—य. मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमानः कीरिणा हृदा जोहवीमि । जातवेदः ! प्रजाभि अस्मासु यशः धेहि । अग्ने ! अमृतत्वमश्याम ।

अन्वयार्थ :- (यः मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमामः) जो मैं मरणधर्मा मनुष्य तुझ को अमरणधर्मा मानता हुआ(कीरिणा हृदा जोहवीमि) स्तुतिमय हृदय से पुनः पुनः पुकारता हूँ । (जातवेदः ! प्रजाभिः अस्मासु यशः धेहि) हे सर्वज्ञ ! हे वेनोत्पादक ! हे कण-कण में विद्यमान रहने वाले भगवन् ! प्रजाओं के द्वारा हमें यश प्रदान कर, (अग्ने ! अमृत्त्वम् अश्याम) हे प्रकाशस्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रभो ! हम अमृतत्व–मोक्ष को प्राप्त होवें ।

मनुष्य मर्त्य है, मरणधर्मा है, नश्वर है, अनित्य है और भगवान् अमर्त्य है, अमरणर्धा भी है, अविनाशी है, अविनश्वर है, नित्य है। यह सत्य है, यह तथ्य, जब मनुष्य को ज्ञात हो जाता है तो तब वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझने लगता है। और फिर कहने लगता है कि "वास्तव में मैं मर्त्य हूं मरणधर्मा हूं, विनाशी हूं, नश्वर हूं, अनित्य हूं ।" उस को तब यह स्पष्ट भासने लगता है कि सदा उसकी एक सी स्थिति न रही है और न रहेगी। कभी वह बच्चा था, कभी जवान था, कभी प्रौढ़ था और अब बूढ़ा है। जब बचपन नहीं रहा, जवानी नहीं रही, प्रौढ़ अवस्था नहीं रही तो यह बुढ़ापा भी अब क्या रहेगा ! अतः एक दिन इसका भी अन्त होगा तो मेरा 'भस्मान्त' होगा।

मनुष्य को जब अपनी इस अस्थिर अवस्था का, इस नश्वरावस्था का, इस अनित्यावस्था का सही रूह से बोध लगता है तो फिर यह मर्त्यः किसी अमर्त्य का, यह मरणाधर्मा किसी अमरणधर्मा

१ 'भस्मान्तं शरीरम् यजु० ४०-१५' यह मेरी अनित्यता है, नश्वरता है कि मैं सदा शरीर में नहीं बना रह सकता। वैसे तो आत्मा जीव–नित्य है ही।

का, यह विनाशी किसी अविनाशी का, यह अस्थिर किसी स्थिर का, यह विनश्वर किसी अविनश्वर का आश्रय लेना चाहता है, किसी अचल का पल्ला पकड़ना चाहता है, किसी निश्चल का सहारा लेना चाहता है।

ऐसी अवस्था में जब वह अपने चहुँ ओर देखता है तो उसे अपने सहित सारे के सारे ही मर्त्य दिखाई देते हैं, अस्थिर और नश्वर दिखाई देते हैं। उसे एक-एक करके नित्य प्रति सब के सब यमराज के मुख का ग्रास बनते हुए दिखाई देते हैं। तब वह इस चलाचली के संसार में किसी अचल को ढूण्ढता है, इस गमनागमन के संसार में किसी निश्चल सत्ता को जानना चाहता है, इस अस्थिर लोक में किसी स्थिर सत्ता को तलाश करता है, इस अनित्य संसार में किसी नित्य तत्त्व को खोजना चहता है। जहां भी जरा उसको इस अविनाशी तत्त्व का थोड़ा ज्ञान होने लगता है वहाँ वह उस तत्त्व के सम्बन्ध में और अधिक से अधिक स्वाध्याय करने लगता है, और अधिक से अधिक श्रवण करने लगता है, और अधिक से अधिक मनन-चिन्तन और निदिध्यासन करने लगता है। निदिध्यासन करता हुआ वह उसको श्रद्धा भक्ति से स्तुति-प्रार्थना उपासना करता है, उसको बड़े उत्साह और उमंग से वह स्मरण करता है, पुकारता है। वेद के शब्दों में यों कहने लगता है— "यः मर्त्यः त्वा अमर्त्यं मन्यमानः कीरिणा हृदा जोहवीमि"— मैं अस्थिर-विनाशी तुझको स्थिर-अविनाशी परम-परमेश्वर मानता हुआ अनुरागपूर्ण हृदय से, स्तुतिपूर्ण हृदय से पुनः पुनः अतिशय करके पुकारता हूं। केवल पुकारता ही नहीं हूं वरन् तुझ से कुछ माँगता भी हूं" वह क्या ? वह यह कि—

'जातवेदः ! प्रजाभिः अस्मासु यशः धेहि'—हे सर्वज्ञ ! हे वेदों को संसार के कल्याण के लिये उत्पन्न करने वाले ! हे कण-कण में विद्यमान रहने वाले प्यारे प्रभो ! तू हमें यश प्रदान कर, तू हमें हमें प्रजाओं के द्वारा भी यश प्रदान कर।'

मरणधर्मा भक्त प्रभु से यह प्रार्थना करता है कि वह कण-कण में विराजमान प्रभु हमें संसार में यश प्रदान करें, केवल हमें अपने गुण कर्म-स्वभावों से ही नहीं वरन् अपनी प्रजाओं-पुत्र पौत्रों के माध्यम से भी यश प्रदान करें, शिष्यों के माध्यम से भी यश प्रदान करें।

संसार में यश-कीर्ति वा स्नेह-सहानुभूति, मान-सम्मान आदि ऐसी प्रिय चीजें हैं जिन को पाकर मनुष्य संसार में हर प्रकार से प्रसन्न रहता है और सहज स्वभाव से स्वस्थ, सुखी रहता है भले ही फिर उसका भोजन वस्त्र स्थान आदि सामान्य ही क्यों न हों, पर इसके विपरीत भोजन, आच्छादन, स्थान आदि कितने भी सुन्दर क्यों न हों पर पग-पग पर अवहेलना, अपमान, तिरस्कार आदि होता रहे तो मनुष्य कुम्हलाने लगता है, दुःखी रहने लगता है, शनैः शनैः तन-मन आदि से शिथिल होने

लगता है, यहाँ तक कि वह सब ओर से आधि-व्याधियों से घिरने लगता···है। इसलिए हर प्राणी के लिए यश, प्यार, माने, सम्मान आदि बड़ी आवश्यक वस्तुएँ हैं, क्योंकि यह उसको सदा तरोताजा हरा-भरा रखती हैं। परन्तु हम मर्त्य-मनुष्य यदि उस अमर्त्य-अविनाशी परमेश्वर से यश कीर्ति आदि के लिए केवल प्रार्थना करने लगें, और उसके लिए कुछ कर्त्तव्य का पालन न करें तो प्रभु भला कैसे हमें यश दे देगा! इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमें यश मिलेगा, कीर्ति मिलेगी, सहानुभूति मिलेगी, स्नेह मिलेगा, मान मिलेगा, सम्मान मिलेगा, पर कब? जबकि हम उस अमर्त्य अविनाशी परम पिता परमेश्वर की प्रेरणाओं का, वेदगत आज्ञाओं का श्रद्धा भक्ति से उत्साह पूर्वक पालन करेंगे। हम वेदानुसार जब अपने कर्त्तव्यों का, अपने उत्तरदायित्वों का, अपनी सन्तान आदि के प्रति मन-वचन-कर्म से पालन करेंगे तो जहाँ वह अमर्त्य प्रभु हमें पग-पग पर, कदम-कदम पर उसके माध्यम से यश देगा, प्यार देगा, स्नेह देगा, सहयोग देगा, मान-सम्मान देगा, वहाँ अपनी ही इन सन्तानों के माध्यम से अपनी ही इन शिष्य प्रशिष्य रूप परम्पराओं के माध्यम से भी वह हमें, यश, प्यार, मान-सम्मान आदि प्रदान करेगा।

इस प्रकार यह निश्चित है कि प्रभु की वेदाज्ञा के अनुरूप एवं हृदयस्थ प्रभु प्रेरणा के आधार पर जीवन में आचरण करने पर सर्वत्र हमें स्नेह, सम्मान, यश एवं आवभगत मिले, सर्वत्र हमें सब सिर पर उठाए-उठाए फिरें और हम भी यश-कीर्ति, मान-सम्मान, सेवा-सत्कार और वाह-वाही में ऐसे मग्न हो जायें, ऐसे डूब जायें कि अपने वास्तविक लक्ष्य को ही हम भूल जायें, इसलिए यह मर्त्य-यह भक्त मनुष्य अपने को मरणधर्मा मानकर अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक होकर प्रार्थना करता है—

"अग्ने अमृतत्वमश्याम"— हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे ज्ञान के अद्वितीय स्रोत भगवन्! हम इस जगत् में उपलब्ध होने वाले 'यश' आदि में कभी इतने मग्न न हो जायें, कभी इतने डूब न जायें कि हमें इसके अतिरिक्त कुछ और दिखाई ही न देने लगे, वरन् हम तो उस 'यशोमय' सरोवर में कमल की भांति जल में रह कर सदा जल के ऊपर तैरते हुए तेरे पावन प्रकाश में वर्तमान रहते हुए सदा खिले रहें, आनन्द से विभोर रहें, सब प्रकार से परितृप्त रहें, और अन्त में हम यों विचार और आचरण करें—

जगत् में हम जब तक रहें अपने को मर्त्य समझते रहें, सदा यह सोचते-विचारते रहें कि 'एक न एक दिन हमें यहां से जाना है' ऐसी दशा में फिर यह हमारा शरीर भी तो हमारा नहीं रहेगा, ये हमारी इन्द्रियां भी तो फिर हमारी नहीं रहेंगी, इस जमीन-जायजाद, धन-वैभव, कार-कोठी, पुत्र-कलत्र की तो बात ही क्या कहानी! ऐसी अवस्था में हम मर्त्यों को चाहिए कि हम अपने को मर्त्य

जानकर किसी अमर्त्य का पल्ला पकड़ें। जब हम मर्त्यों को उस अमर्त्य का, उस अक्षर का, उस अविनाशी का कुछ ज्ञान हो जाय तो उसे मानते हुए, बुद्धि से स्वीकार करते हुए, उस पर हृदय से श्रद्धा और विश्वास करते हुए उस परम प्रभु को हार्दिक टीस के साथ धारण करने के भाव से उसकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना करते हुए उसे पुनः पुनः, अतिशय करके खूब पुकारें, हृदय की तड़प के साथ उसका स्मरण करें, उसका आह्वान करें, ऐसे कि जैसे उसके बिना हमारा रहना सम्भव नहीं हो रहा हो ! किसलिये ? इसलिए कि वह प्रभुदेव हमें प्रजाओं के साथ-साथ, सन्तान के साथ-साथ (यशो वै अन्नम्) अन्नादि साधन अर्थात् खाद्य एवं पेय पदार्थ प्रदान करे। फिर हम उन सन्तानों का उस प्रभु के नेतृत्व में ऐसा उत्तम पालन-पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण करें, और उनको जगत् में ऐसा उत्तम बनाकर खड़ा करें कि जिसमे हमें स्थान-स्थान पर यश मिले, प्रशंसा मिले। अथवा वह "जातवेदाः" सभी प्रकार के वे सब धन अन्नादि प्रदान करने वाला ज्ञान-ध्यान का प्रकाश करने वाला, कण-कण में वर्तमान रहने वाला सर्वव्यापक प्रभुदेव हमें प्रजाओं द्वारा भी यश प्रदान करे। अर्थात् हम उस प्रभु प्रदत्त धन-अन्न आदि का वेदानुसार वा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणानुसार ऐसा सदुपयोग करें कि हमें परिणाम में सबसे स्नेह सम्मान, यश-कीर्ति मिले। बड़ों से हमें साधुवाद मिले, आशीर्वाद मिले, प्यार मिले, छोटों से मान मिले, सम्मान मिले आदि परन्तु अपने कार्यों के आधार पर मिलने वाले इन मान-सम्मानों में, इन स्वागत–सत्कारों में, इन सेवा शुश्रूषाओं में, इन भेंट–पुरस्कारों में फंसकर कभी हम अपने अन्तिम उद्देश्य को, अपने परम लक्ष्य को भूल न जायें। अर्थात् इस यश–कीर्ति आदि में कहीं हम ऐसे डूब न जायें कि हमारा चरम लक्ष्य ही हम से ओझल हो जाय। हम तो इन सब यश–कीर्ति, मान–सम्मान आदि को प्राप्त करते हुये भी अपने लक्ष्य के प्रति सदा जागरूक बने रहें, और आपकी शरण में आकर पुरुषार्थ पूर्वक यह प्रार्थना करें–"अग्ने अमृतत्वमश्याम" हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! हम तुझ को अपना सच्चा नेता मानकर तेरे पावन नेतृत्व में इस संसार में जहां यश पावें वहां मोक्ष को भी प्राप्त कर सकें, ऐसी हमें शक्ति और भक्ति प्रदान करो।"

जो भी बस संसार के इस मान-सम्मान में न फंसकर इस सेवा–सत्कार में डूब कर अपने जीवन के चरम लक्ष्य के प्रति सदा सजग रहता है, उसे फिर भगवान् वह प्रसाद देता है, वह तृप्ति देता है, वह आनन्द देता है कि जिस के सम्मुख यह सब कुछ तुच्छ भासता है, नगण्य लगता है। अतः अन्तिम उद्देश्य के प्रति भक्त को सदा सजग रहना चाहिये।

□□□

'रुद्र'-व्युत्पत्ति-विवेचन

डॉ० राकेश शास्त्री, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आचार्य यास्क ने वैदिक देवों का तीन श्रेणियों में विभाजन किया-द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा पृथ्वी स्थानीय। द्यु-स्थानीय देवों में सूर्य, विष्णु, अश्विनौ, ऊषा, सविता, पूषन् तथा पृथिवी-स्थानीय देवों में अग्नि, पृथिवी, सोम आदि प्रमुख हैं। किन्तु अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों का इन तीनों में सर्वाधिक महत्त्व प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें इन्द्र, मातरिश्वा, पर्जन्य, आपः, मरुत् तथा रुद्र आदि देवों की गणना की गयी हैं तथा इन्द्र का वैदिक देवताओं में सर्वप्रमुख स्थान है, क्योंकि अकेले ऋग्वेद-संहिता में ही लगभग एक चौथाई भाग में इन्द्र की स्तुति की गयी है, लगभग २५० सूक्तों में अकेले इन्द्र की महिमा का कथन हुआ है तथा पचास सूक्तों में यह देवता अन्य देवों के साथ वर्णित हुआ है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों में अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं का विशिष्ट महत्त्व है। इन्हीं अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में रुद्र की भी गणना की गयी है। रुद्र का ऋग्वेद के अधिक सूक्तों में वर्णन नहीं हुआ है, फिर भी तीन सम्पूर्ण सूक्तों में[1] तथा एक सूक्त में अंशतः[2] तथा एक अन्य सूक्त में सोम के साथ[3] इसका नाम आया है। ऋग्वेद में इसका नामोल्लेख कुल मिलाकर पिछत्तर बार हुआ है। इस प्रकार वर्णन की दृष्टि से यदि देखें तो हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में रुद्र को गौण स्थान मिला है। (यद्यपि यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा संहितोत्तर वैदिक साहित्य में यह एक प्रमुख देवता के रूप में उभर कर आया है। प्रस्तुत संक्षिप्त लेख का विवेच्य रुद्र का व्युत्पत्ति-विवेचन ही है, अतः विषयान्तर एवं विषय-विस्तार के कारण उस पर किसी अन्य लेख में अवसर मिलने पर विचार करेंगे।) ऋग्वेद में रुद्र शब्द प्रायः सर्वानुदात्त स्वरयुक्त प्रयुक्त हुआ है,[4] किन्तु आद्युदात्त स्वर-युक्त भी मिलता है।[5]

रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति—

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने रुद्र शब्द पर विचार करते हुए रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है।

---

१ ऋग्वेद-१.११४, २.३३, ७.४६।
२ वही-१.४३।
३ वही-६.७४।
४ वही-१. ११४. २, ३, ७, ८, २.३३. १-४, ७, १०-१२, १५, ७. ४६. २, ४, १०. १६९. १।
५, वही-५. ३. ३।

(i) रुद्रो रौतीति सतः (ii) रोरुयमाणो द्रवतीति वा (iii) रोदयतेर्वा ।1

अपने कथ्य की पुष्टि हेतु आचार्य यास्क ने प्रमाण भी दिये हैं—

(i) **'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति काठकम्,** तथा

(ii) **'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति हारिद्रविकम्** ।2

स्पष्ट है कि आचार्य यास्क इसे रोदनार्थक 'रुद्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं, साथ ही रुद्र के कार्यों को लक्ष्य करके उसकी व्युत्पत्ति करते हैं।

निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग यास्क के कथन की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

'रुद्रः कस्मात्—"रौतीति सतः' स हि स्तनयित्नु शब्दं करोति ।। "रोरुयमाणो द्रवति इति वा" शब्दं कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति' "रोदयतेः वा" शत्रूनसौ रोदयति दुःखयति ।3

आचार्य दुर्ग की उक्त व्याख्या से रुद्र के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है— रुद्र मेघ के समान गर्जन (स्तनयित्नु–मेघगर्जन)4 करने वाला है अथवा गर्जन करते हुए मेघ के उदर से गिरता है (द्रवति). अथवा रुद्र शत्रुओं को रुलाता है अर्थात् दुःख देता है।

वाजसनेयी संहिता तथा तै.सं. में भी रुद्र शब्द को 'रुद्–रौदनार्थक' धातु से ही व्युत्पन्न माना गया है—

(अ) यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् (तै०सं० १.५.१.१)

(ब) तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा, इति वाजसनेयिनः ।

'शतपथ ब्राह्मण' में रुद् धातु को ही आधार मानकर रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार की गयी है—

---

१ निरुक्त – यास्क, १०.६. ।

२ वही ।

३ ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे भवति—"यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति" काठकम् कठानां प्रवचनम् । ऐतिहासिकैरेतत् समवैति — स किल पितरं प्रजापतिमिषुणां विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् । 'यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति हारिद्रविकम्— स एवार्थः केवलं तु शाखान्तरमन्यत एवं शाखान्तरेभ्योऽपि देवताभिधाननिर्वचनान्तराण्युपेक्ष्याणीत्युपप्रदर्शनार्थम् । हरिद्रवो नाम मैत्रायणीयानां शाखाभेदः । निरुक्त—दुर्ग–टीका, १०.६ ।

४ उत्तररामचरित–३.७, ५.८ ।

"तद् यद् रोदयन्ति तस्मात् रुद्राः"

अर्थात् जो रुलाने का कार्य करते हैं, उन्हें रुद्र कहते हैं।

यह तो रही भारतीय परम्परा की बात। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् रुद्र को 'रुद्' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए भी, उसे 'रोदनार्थक' स्वीकार नहीं करते।

पीशेल ने 'रुद्' धातु को 'लोहित होना' तथा ग्रासमान ने 'प्रकाशित होना' अर्थ में प्रयुक्त माना है।1 किन्तु पाणिनीय धातु-पाठ आदि में 'रुद्' धातु के इन अर्थों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ए. बी. कीथ के मत में—'ये मान्यताएं निरी कल्पनाएं (Hyopotothetical) हैं।'2

पीशेल तथा ग्रासमान की उक्त कल्पना सम्भवतः ऋग्वेद के उन मन्त्रों पर आधृत कही जा सकती है, जिनमें रुद्र को लोहित वर्णवाला3 तथा सूर्य एवं स्वर्ण की भांति चमकने वाला4 एवञ्च आंखों को चौंधिया देने वाला5 बताया है।

इसके अतिरिक्त बेबर, हिलेब्रान्ट, एल. थॉन, श्रोदर, मार्स, सिल्वनस, फौनी तथा ओल्डेनवर्ग ने भी रुद्र के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उन्होंने 'रुद्' धातु को लक्ष्य करके इसके स्वरूप पर विचार नहीं किया। इनमें से बेबर ने इसे मूलतः प्रचण्ड वात का दीर्घ-घोष बताया है। हिलेब्रान्ट ने— भारत के उष्णकाल का देवता कहते हुए, किसी ऐसे नक्षत्र के साथ सम्बद्ध माना है, जो कृशानु तथा तिष्य नक्षत्र के साथ रहता है। उनकी यह कल्पना सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित प्रजापति के वध के आख्यान पर आधृत प्रतीत होती है। श्रोदर ने रुद्र को प्रमुख मृतात्मा के रूप में माना है। ओल्डेनवर्ग भी श्रोदर के मत से सहमत प्रतीत होते हैं। मार्स, सिल्वनस, फौनी आदि विदेशी विद्वान् पर्वत एवं वन के दानवों के साथ रुद्र के तात्त्विक सादृश्य को स्थापित करते हैं।6

---

१ वैदिक धर्म तथा दर्शन, मूल लेखक—ए०बी०कीथ, अनु० डा० सूर्यकान्त, प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, पृ० १८१ (टिप्पणी द्रष्टव्य)।

२ वही पृ० १८१।

३ ऋग्वेद—२.३३.५, ८.९.१५।

४ यः शक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। ऋग्वेद १.४३.५.।

५ दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रुपं नमसा निह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥ ऋग्वेद १.११४.५।

६ वैदिक धर्म तथा दर्शन—पृ० १८१-१८२।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के चतुर्थ अध्याय में वेद-विषय-विचार करते हुए, ग्यारह रुद्रों की कल्पना[1] तथा रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है—

शरीर के दशप्राण— "प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय तथा ग्यारहवाँ जीवात्मा ही ग्यारह रुद्र हैं।"[2]

पुनः रुद्र शब्द पर विचार करते हैं—

"जब दश प्राण तथा जीवात्मा शरीर से निकल जाते हैं, तो मरण होने से सब सम्बन्धी लोग रुदन करते हैं, रोते हैं, (रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः) अर्थात् वे (प्राण, अपान, जीवात्मा आदि ग्यारह रुद्र) निकलते हुए उन सब (सम्बन्धीगण) को रुलाते हैं, इसलिए इन्हें रुद्र कहा जाता है।[3]

स्पष्ट ही स्वामी जी ने रुद्र के नामकरण एवं उनकी संख्या पर सुन्दर तथा तर्क-सम्मत विचार किया है। स्वामी जी ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में रुद्र के परमात्मा,[4] ब्रह्मचर्य,[5] न्यायाधीश,[6] राजा,[7] सर्वरोगनिवारक भिषक्[8] आदि अर्थ भी किये हैं, किन्तु अधिकांश स्थलों पर रुदन अर्थ की ही मुख्यता रही है। जैसे— दुष्टानां रोदयितः (१.११४.८, २.३३.१,१०) अन्यायकारिणां रोदयितः (२.३३.११)।

शब्दकल्पद्रुमकोशकार की सम्मति में भी 'रुद्र' शब्द 'रुद्-रोदनार्थक' धातु से ही सम्पन्न होता है—

---

१ अथैकादशरुद्रनामानि यथा— अजः, एकपातः, अहिर्बुध्नः, पिणाकी, अपराजितः, त्र्याम्बकः, महेश्वरः, वृषाकपि, शम्भुः, हरण., ईश्वरः इति महाभारते।
शब्दकल्पद्रुम-भाग४-तृतीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज पृ० १६७।

२ एकादश रुद्राः— ये पुरुषेऽस्मिन्देहे प्राणः अपानः व्यानः समानः उदानः नागः कर्मः कृकलः देवदत्तः धनञ्जयश्च। इमे दशप्राणाः, एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादशा रुद्रा भवन्ति।
ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका-वैदिक यन्त्रालय अजमेर, १९७०, पृ० ६९।

३ कुत एते रुद्रा इत्यत्राह-यदा यस्मिन्कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति। यतो जना रुदन्ति, तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम्। वही।

४ ऋग्वेद दयानन्द भाष्य २.३३.१०।

५ वही—१.११४.१।

६ वही—१.११४.२।

७ वही—७.४६.२।

८ वही—२.३३.२,७,१५।

रुद्रः—रोदयतीति। रुद्+णिच्+'रोदेर्णिलुक् च' उणा० २.२२ इतिरक् ।[1]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुद्र शब्द को प्रायः सभी विद्वान् आचार्यों ने चाहे वे भारतीय रहे हों अथवा विदेशी 'रुद्' धातु से उत्पन्न माना है। यह बात और है कि वह धातु कुछ विद्वानों ने रोदनार्थक कुछ ने चमकना अथवा लोहित होना अर्थ में प्रयुक्त मानी है। रोना अर्थ में भी चाहे वह उत्पन्न होने के तुरन्त बाद रोया था, अथवा वह दुष्टों को रुलाता है या शत्रुओं को रुलाता है, इन विविध अर्थों के आधार पर हो।

इस विषय में रुद् धातु के 'चमकना' और 'लोहित होना' इन अर्थों की संगति भी वेद मन्त्रों के परिप्रेक्ष्य में पाणिनी के इन शब्दों के आधार पर भी माननी उचित प्रतीत होती है कि—

'धातव अनेकार्थाः भवन्ति'

यदि पाणिनीय धातु पाठ आदि में रुद् के 'चमकना' अथवा 'लोहित होना' अर्थों का उल्लेख नहीं हुआ है, तो 'रुद्र' के उक्त अर्थों को मानने से भी मना नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन अर्थों का आधार ऋग्वेद को कहा जा सकता है।

इस विषय में स्वामी दयानन्द जी की आध्यात्मिक व्याख्या का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। उस व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में 'रुद्र' को 'रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः' क्योंकि यह प्राण, अपान जीवात्मा आदि के निकलने पर सम्बन्धी गणों को रुलाता है, अर्थ उचित प्रतीत होता है।

□□□

१ शब्दकल्पद्रुम—भाग ४—तृतीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ० १६७।

गतांक से आगे—

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

—डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त

ईश्वर से उद्भूत होने से यह सृष्टि सर्वम् व पूर्णम् है। सृष्टि सत्य है। वह समस्त प्राणियों के निमित्त है। वे उसका उपयोग सहज भाव से करते हैं। हम उसे ज्ञान का स्रोत मानें, ईश्वर की व्यवस्था में लोक कल्याण की अभिव्यक्ति देखें, और ईश्वर के सामीप्य का अनुभव करें। ईश्वर ने मनुष्येत्तर प्राणियों को भी ज्ञान दिया। उनके लिये जितना ज्ञान आवश्यक था, उतना सभी को दिया। जंगल का कोई भी पशु गुरु से ज्ञान की प्राप्त नहीं करता, उसे जो कुछ चाहिए, नैसर्गिक रूप से मिला हुआ है। मधुमक्खी को छत्ता बनाने की कला सीखनी नहीं पड़ती और फूलों के पराग से मधु और मोम पृथक करने की क्रिया का अभ्यास उसे नहीं करना पड़ता। उसका समस्त ज्ञान ईश्वर प्रदत्त है। यही बात छोटे बड़े मनुष्येत्तर प्राणियों की है। धरती पर प्रभु की जितती सृष्टि हमारे देखने में अब तक आयी है, उसमें मनुष्य ही ऐसा विचित्र प्राणी है जो नैसर्गिक प्रवृत्ति की दृष्टि से हीनतम है। किन्तु प्रभु ने कृपा करके उसे ऐसी मेधा प्रदान की है कि उसे शिक्षित और दीक्षित होकर वह अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत, सौम्य और कुशल हो सकता है। उसी मेधा के कारण धर्म-अधर्म का भेद तथा देवत्त्व और असुरत्त्व का अन्तर वह समझ सकता है। देवत्त्व और असुरत्त्व की द्विविधायें उसी के लिये हैं। पर वस्तुतः यही द्विविधा उसका वरदान है। इसी में उसका बड़प्पन है। मनुष्य में सप्तऋषि, विद्वान, तपस्वी और महात्मा हो सकते हैं, और मनुष्य में ही जड़बुद्धि के अथवा तामस प्रवित्तियों के दुरात्मा भी हो सकते हैं। विवेक, योग, तपस्या, निष्कामात्मा, सत्य और श्रद्धा यह गुण मनुष्य के ही गौरव हैं। उसके पथ पदर्शन के लिये श्रुति या वेद के समान ज्ञान की व्यवस्था का होना प्रभु के प्यार और कृपा की अभिव्यक्ति है। सृष्टि रचना का ही उपकार बहुत बड़ा था, पर ज्ञान देना अत्यावश्यक था, अन्यथा मनुष्य जाति गहन अन्धकार में पड़ी रहती। जो कुछ सत्य विद्या और पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। पदार्थ अर्थात् सृष्टि और सत्य विद्या अर्थात् ज्ञान दोनों की रचना अपौरुषेय है। सृष्टि में व्याप्त ज्ञान और वेदज्ञान में कोई विरोध और संघर्ष सम्भव ही नहीं है। जिस रूप में सृष्टि सत्य है उसी रूप में वेद भी। दोनों की रचना न अकस्मात् है, और न निष्प्रयोजन। अन्तर इतना ही है कि सृष्टि एकमात्र मनुष्य के लिये नहीं प्रस्तुत वरन् समस्त प्राणियों के लिये है। वेद केवल मनुष्य के लिए है और यह भी इस धरती के मनुष्य के लिए जिसका पंचकोशमय अतिविकसित शारीरिक तन्त्र है। इस धरती

पर अन्य प्राणियों का भी पंच भौतिक शरीर है, पर इनके मनोमय, प्राणमय और अन्नमय तीनों कोश विकास की निम्न श्रेणी पर , और तद्नकूल ही उनके अन्य विज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी हीन कोटि के हैं।

विज्ञानमय कोष द्वारा प्राप्त पदार्थों का ज्ञान तथा आनन्दमय कोष द्वारा ईश्वर सानिध्य का रस, यही जीवन के दो पाथेय हैं। इनके लिये ईश्वरीय ज्ञान होनाप रमावश्यक है। उक्त ऊहापोह से स्पष्ट है कि जगत के प्रारम्भ में ज्ञान नैमेत्तिक होता है और ईश्वर की ओर से ही होता है। फैराडे नामक वैज्ञानिक ने कहा है—

First spark was the dirne gift, but the steady flame was lit by men's own unremitting labours.

यही बात योग दर्शन ने कहा है—

स पूर्वेषामपिगुरु : कालेनानवच्छेदात्

वह गुरुओं का गुरु है। उस पर अनवस्था दोष नही लगता। यों देखने में आता है कि हम सब सभ्यता व आचार की बातें माता-पिता व आचार्य से सीखते हैं। उन्होंने अपने अपने माता-पिता आचार्य से सीखे थे। अतः आदि गुरु कोई होना चाहिए। वह ईश्वर है।

जो व्यक्ति पर लागू है वही समाजों पर दार्शनिक चिन्तनों पर भी। यूरोप की सभ्यता रोम से, रोम की यूनान से, यूनान की ईरान से, ईरान की भारत से गई है, जैसा कि जरदुश्त की जिन्दावस्ता से ज्ञात होता है। दर्शन के क्षेत्र में इस्लाम ईसा से, ईसा मूसा से (यहूदी धर्म से) और डेमित्र (पारसी) धर्म से मूल तत्व लेते हैं। जिन्दावस्ता की भाषा तो बिलकुल सस्कृत जैसी है। उनमें पापी और पुण्यआत्मा दो विभाजक तत्व है। यह ईश्वरकृत विभाजन माना है। यहीं से पाप (अहि) अर्थात् साँप या शैतान की उत्पत्ति मानी है। वरुण और मित्र देवता की उपासना तथा अग्नि का सत्कार, यही इस मत की मुख्य मान्यता है। यह वेद के प्रसिद्ध वृत्रासुर संग्राम वाले रूपकों का रूपान्तर मात्र है। स्वयं अवस्था शब्द अविद शब्दों से मिलकर बना है। वस्तुतः असुर वे लोग थे जो दक्ष प्रजापति की स्त्री दिति की सन्तान थे। दायभाग के लिये हुए संग्रामों में अदिति की सन्तान आदित्यों द्वारा हराये जाकर भारत से खदेड़ दिये गये थे। वे देवता तथा सुरों को राक्षस कहते हैं। वे अपने साथ यहां का ज्ञान तथा सस्कृति लेते गये। वे हवा, पानी तथा आग को अतिपवित्र मानते हैं। पानी तथा पृथ्वी और हवा को गन्दा करना पाप समझते है। और यज्ञ की अपभ्रंश आग के सतत् पुजारी हैं। खेती को पवित्र मानते हैं। उनके भाषा और संस्कृति में इतना ही भेद हैं, जितना पितर और पिदर में।

मानव स्वभाव में भी यही देखने में आता है फिर हर कोई नये युग की स्वर्णिम मानता है। पर गये गुजरे समय में आचार उन्नत अवस्था में था।

संकट काल में सब जातियां सूक्ष्म शक्तियों (देवों) की ओर देखती आई हैं। प्रार्थना का सम्बल लेती आई हैं। जब पाप प्रवृति की ओर चलते हैं, अन्तरआत्मा में भय लज्जा और शोक होता है तथा परोपकार और तप त्याग से मन में शक्ति को कोई द्विगुणित करता रहता है। यह सर्वज्ञान, उत्साह, प्रेरणा, चेतावनी प्रभु की ओर से है। सर्गारम्भ में ज्ञान मिलता है और सदा मिलता रहता है। तभी कहा है— धियो योनः प्रचोदयात्।

The revealetion is perpetually ofverative.

अतः निष्कर्ष स्पष्ट है कि सर्व सत्य विद्या और पदार्थ विद्या का आदिमूल परमेश्वर है।

(8) ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में कल्पनायें—

इस ईश्वरीय ज्ञान के तीन रूप हो सकतेहैं —

पहली कल्पना—

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता जगत् के प्रारम्भ में होती है। तब तत्कालीन मनुष्य-समाज में शिक्षकों का अभाव होता है, उस अभाव की पूर्ति ईश्वरीय ज्ञान द्वारा होती है। भारतवर्ष के ऋषिमुनियों का ऐसा ही विचार था।

दूसरी कल्पना—

दूसरा विचार यह है कि समय-समय पर विशेष-विशेष पुरुष के द्वारा विशेष-विशेष पुस्तकों के रूप में ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ करता है। ईसाई, मुसलमान तथा यहूदी आदि सम्प्रदाय इस विचार के समर्थक हैं। इस कल्पना में यह आवश्यक है कि दूसरे इलहाम के होने पर पहला रद्द समझा जावे, जैसा कि सैमेटिक लोगों का विचार है। परन्तु यह बात यहां याद रखनी चाहिए कि ईश्वर और उसके ज्ञान आदि सभी नित्य और अपरिवर्तनीय है। फिर ईश्वर प्रदत्त इलहाम का मन्सूख होना कैसा ? प्लेटोने ठीक ही कहा है कि परमात्मा ज्ञान और कर्मदोनों में पूर्ण सबल और सत्य है। वह परिवर्त न नहीं करता, वह कभी किसी प्रकार से भी जागृत् या स्वप्न में आदेश या शब्द में धोखा नहीं देता।

यह विचार उसने अपने ग्रन्थों में अनेक जगह प्रकट किये हैं।

तीसरी कल्पना—

तीसरा विचार यह है कि बिना किसी पुस्तक के माध्यम के समय-समय पर विशेष-विशेष पुरुषों को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता रहता है। ब्रह्म समाज और उनके अनुयायी तथा अन्य कुछेक

पुरुष इस कल्पना को ठीक मानते हैं। जब जगत के प्रारम्भ में मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हो चुका है तब उसके बाद भी ज्ञान प्राप्ति की कल्पना से ईश्वर की सर्वज्ञ क्षमता में धब्बा आता है। इलहाम होकर फिर उसको रद्द करना अथवा उसमें संशोधन करना अथवा उनके स्थान पर नया ज्ञान देने से ईश्वरत्व में बाधा पहुँचती है। इसलिये दूसरी और तीसरी कल्पनायें अप्रतिष्ठित है। अस्तु अब हम पहली कल्पना के सम्बन्ध में कुछेक आवश्यक बातों का उल्लेख अगले अध्याय में करेंगे।

यहाँ तक का निष्कर्ष :—क्योंकि वेद धर्म तथा उसके उपनियमों का प्रतिपादन करने वाले हैं और धर्मादि तत्त्व अतातिन्द्रय हैं, किसी भी पुरुष में ज्ञान का इतना विकास नहीं हो सकता है कि वह अतीतिन्द्रिय दर्शी एवं सर्वज्ञ हो सके। यदि पुरुषों में ज्ञान का प्रकर्ष मान लिया गया या उनके अनुभव को अतीन्द्रियसक्षतिकार का अधिकारी मान लिया गया तो परिस्थिति विशेष में धर्मादि के स्वरूप का विविध प्रकार से विवेचन ही नहीं निर्माण भी सम्भव हो सकता है और इस तरह वेद के निर्बाध एकाधिकार में बाधा आ सकती है। इसलिये भी मीमांसकों की ने पुरुषों के धर्म व सर्वज्ञत्व का निराकरण किया है। (क्रमशः)

७५ वर्ष पूर्व गुरुकुल-वृत्तान्त—

स्वामी श्रद्धानन्द जी की लेखनी से—

प्रस्तुतकर्त्ता—जगदीश प्रसाद विद्यालङ्कार

श्री म० मुन्शीराम जी मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी आजकल श्री मास्टर रामदेव जी बी० ए० आदि कितने ही योग्य सज्जनों सहित देहली नगर में गुरुकुलार्थ भिक्षा एकत्रित कर रहे हैं। उनके स्थान पर श्री ला० रामकृष्ण जी प्रधान श्री आ० प्र० सभा पंजाब ता० २२ अगस्त १९०८ से पधार कर उक्त पद के कार्यभार का सम्पादन कर रहे हैं।

२—श्री पं० मेलाराम जी शास्त्री और पं० रलाराम जी शास्त्री उक्त कुल के लिये पटियाला आदि स्थानों में भिक्षा का कार्य कर रहे हैं।

३—गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की शारीरिक अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, जो चार पांच ब्रह्मचारी टाइफाइड के रोग से ग्रस्त थे, वे नीरोग होकर इस समय केवल निर्बलावस्था में हैं, कोई नूतन आघात (केस) टाइफाइड का नहीं हुआ। केवल ब्रह्मचारी बृहस्पति के जो पहली श्रेणी का विद्यार्थी है, उसका ज्वर अपना समय पूरा करने के पश्चात् आशा है कि ठीक हो जायेगा उसकी कोई चिन्ता की बात प्रतीत नहीं होती। आज ३१ अगस्त को उसे केवल १०१ दर्जा बुखार था और बातें मुस्करा कर करता था।

४—गुरुकुल में भी वर्षा खूब हुई है, गुरुकुल के चारों ओर पर्वतों पर हरियाली के दृश्य मनोहर व सुहावने निराले ही दृष्टिगत हो रहे हैं।

५—मलेरिया को रोकने के लिये सर्व प्रकार की सफाई आदि का प्रयत्न हो रहा है।

किसी किसी को जो कभी ज्वर हो जाता है, वह शीघ्र दूर हो जाता है।

६—गुरुकुल में आज कल छुट्टियां हैं शाला ११ सितम्बर ०८ से आरम्भ होगी और १५ सितम्बर से ब्रह्मचारी उक्त परीक्षार्थ भली-भांति परिश्रम कर रहे हैं।

(सद्धर्म प्रचारक—२ सितम्बर १९०८)

□□□

गुरुकुल समाचार

इंग्लैण्ड में कामनवेल्थ यूनिवर्सिटीज का सम्मेलन—

एसोसियेशन कॉमनवेल्थ यूनिवर्सिटीज के आमन्त्रण पर कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा तीन अगस्त को इंग्लैण्ड रवाना हुए। यह सम्मेलन बर्मिंघम में होना निश्चित हुआ है। सम्मेलन के पश्चात् वे यूरोप के अन्य विश्वविद्यालयों का भी भ्रमण करेंगे तथा वहाँ की शिक्षा व्यवस्था के बारे में जानकारी लेंगे।

प्रो० उपेन्द्र ठाकुर—विजिटिंग फैलो—

विश्वविद्यालय की विजिटिंग फैलो की योजना के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय-इतिहास विभाग में इस वर्ष अगस्त माह में मगध विश्वविद्यालय के प्रो० एवं अध्यक्ष डॉ० उपेन्द्र ठाकुर विश्वविद्यालय में पधारे। प्रो० ठाकुर देश के जाने-माने इतिहासकार हैं एवं उन्होंने एशियाई देशों पर विशेष रूप से शोध-कार्य किया है। अब तक उनकी एक दर्जन पुस्तकें तथा सौ से अधिक शोध-लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उनके निर्देशन में कार्य करते हुए लगभग ४० पी-एच०डी० तथा ११ डी०लिट्० अपनी उपाधियां अर्जित कर चुके हैं। प्रो० ठाकुर हमारे विश्वविद्यालय में एक मास तक रहे और इस अवधि में उनकी उपस्थिति से प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग को बड़ा ही लाभ मिला है। विश्वविद्यालय के अनेक शोधार्थियों ने अपने शोध-निबन्ध के बारे में उनसे अमूल्य परामर्श प्राप्त किये। विभाग के विकास की दिशा में भी प्रो० ठाकुर ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये।

विभाग के विद्यार्थियों के साथ बातचीत के अतिरिक्त उन्होंने विभाग में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान भी दिये। प्रथम व्याख्यान **"दक्षिणी-पूर्वी-एशियाई देशों में रामायण"** और दूसरा व्याख्यान **"बृहत्तर-भारत में भारतीय संस्कृति"** विषय पर हुआ।

१५ अगस्त :—

इस वर्ष भी स्वतन्त्रता-दिवस समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। प्रातःकाल साढे आठ बजे ध्वजारोहण का कार्य विज्ञान-महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सुरेशचन्द्र त्यागी ने किया। श्री त्यागी जी ने अपने संक्षिप्त भाषण में देश की आजादी के आन्दोलन में गुरुकुल के योगदान पर प्रकाश डाला और सभी गुरुकुलवासियों को अपने देश के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करने के लिए प्रेरित किया एवं कहा कि हम सबको अपने देश के प्रति निष्ठावान् रहना चाहिए।

इस अवसर पर विश्वविद्यालय के प्राध्यापकगण, विद्यालय के अध्यापक, विद्यार्थी एवं कर्मचारी उपस्थित रहे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रकाशन

आपको यह विदित होगा कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना १९०० ई० में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने की। यह गुरुकुल देश में प्रचलित मैकाले-शिक्षा-पद्धति का एक भारतीय जवाब था, इस गुरुकुल में वेद-वेदांगों की शिक्षा के साथ विज्ञान आदि विषयों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था है। साथ ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के प्रचार हेतु विश्वविद्यालय-प्रकाशन की व्यवस्था की गयी है, सही

शिक्षा सम्बन्धी शोध संकलन—

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा गत् वर्ष ४ सितम्बर ८२ से ८ सितम्बर ८२ के मध्य में अखिल भारतीय स्तर पर एक वैदिक-शिक्षा राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन किया गया था।

इस कार्यशाला में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के परिवेश में शिक्षा प्रणाली की वैदिक मान्यताओं के संदर्भ में गम्भीर विचार विमर्श हुआ। शिक्षा का वैदिक-आदर्श जन मानस के सम्मुख रखने हेतु इस कार्यशाला में उपस्थित सभी विद्वानों के निबन्ध पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त इस कार्यशाला की महत्त्वपूर्ण संस्तुतियां भी परिशिष्ट में संलग्न हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालने वाले ३७ निबन्धों के २२८ पृष्ठों के इस संकलन का लागत मूल्य मात्र २० रू० है। लेकिन शैक्षणिक संस्थाओं के लिए वैदिक-शिक्षा के प्रचार हेतु इसका मूल्य केवल १५ रूपये रहेगा। कृपया अपनी प्रति का आदेश धनादेश द्वारा निम्न पते पर भेजें।

व्यवसाय प्रबन्धक,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ०प्र)

पुस्तक का विवरण निम्न प्रकार है—

वैदिक-शिक्षा राष्ट्रीय कार्यशाला
(शोध-पत्र एवं लेखों का संकलन)
निदेशक एवं सम्पादक डॉ० जयदेव विद्यालङ्कार
पृष्ठ—२२८, मूल्य—२० रूपये।
प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (सहारनपुर) उ० प्र०

आशा है, आपके द्वारा गुरुकुल से प्रकाशित शिक्षा सम्बन्धी इस शोध संकलन का स्वागत होगा।

विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकायें—

इस समय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के द्वारा निम्न पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है। आपसे आग्रह है कि आप इन पत्रिकाओं के वार्षिक सदस्य बन कर इन प्रकाशनों को सुदृढ करने में हमें सहयोग प्रदान करें।

१-गुरुकुल पत्रिका—

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का यह गौरवपूर्ण मासिक प्रकाशन निरन्तर पिछले ३४ वर्षों से निकल रहा है। इस लोकप्रिय पत्रिका में धर्म-दर्शन, प्राच्य-विद्या, भारतीय संस्कृति आदि विषयों पर रोचक एवं तथ्यात्मक सामग्री हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में प्रदान की जाती है। भारतीय संस्कृति से स्नेह रखने वाले महानुभावों एवं शिक्षा संस्थाओं के लिए यह संग्रहणीय प्रकाशन है।

इस पत्रिका का वार्षिक शुल्क मात्र १२–०० रूपये है।

२-आर्य भट्ट—

इस पत्रिका में हिन्दी भाषा में विज्ञान आदि विषयों पर ओजपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। वेदों में विज्ञान सम्बन्धी विषय पर भी ओजपूर्ण सामग्री इस पत्रिका में प्रकाशित रहती है। इस त्रैमासिक पत्रिका का शुल्क ५–०० रूपये वार्षिक है।

३-प्रह्लाद—

मानविकी एवं सामान्य रूचि की रोचक सामग्री का प्रवेश इस त्रैमासिक पत्रिका में है। इस का वार्षिक शुल्क १२–०० रूपये है।

उपर्युक्त पत्रिकाओं के शुल्क आप व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नाम धनादेश (मनीआर्डर) द्वारा भेज सकते हैं। यदि चन्दा बैंक-ड्राफ्ट से भेजना हो तो "गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार" के नाम से भर कर भेजे।

ग्राहक बनने पर उपर्युक्त पत्रिकाएं नियमित रूप से सदस्यों को भेजी जाती रहेंगी। आशा है आप इन पत्रिकाओं के ग्राहक बनकर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रसार में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

भवदीय

जगदीश प्रसाद विद्यालङ्कार

व्यवसाय प्रबन्धक

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार